।। दंसण मूलो धम्मो।।

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

सम्पादक : रामजी माणेकचन्द दोशी वकील

वर्ष छठवाँ
अंक आठवाँ

६८

मगसिर
२४७७

विवेक

अहो! एक मक्खी भी मिश्री और फिटकरी के स्वाद का विवेक करके फिटकरी को छोड़ती है और मिश्री का स्वाद लेने को चोंटती है; तो जिसे अपना कल्याण करना है–ऐसे जीव को, अपना त्रिकाली स्वभाव क्या है और विकार क्या है–इसका बराबर विवेक करना चाहिए। त्रिकाली स्वभाव के लक्ष्य से शान्ति और क्षणिक पर्याय के लक्ष्य से आकुलता होती है;–इस प्रकार दोनों का भेद जानकर, यदि पर्याय से हटकर त्रिकाली स्वभाव की ओर श्रुतज्ञान उन्मुख हो तो स्वभाव के आनन्द का स्वाद आये और चाहे जैसे प्रतिकूल संयोग के समय भी वह ज्ञानस्वभाव की एकता को न छोड़े!

एक अंक
चार आना

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

अनेकान्त मुद्रणालय : मोटा आंकड़िया

अफ्रीका में मुमुक्षु-मण्डल की स्थापना

पूज्य श्री कानजीस्वामी के आत्मकल्याणकारी उपदेश का प्रभाव मात्र भारतवर्ष में ही नहीं किन्तु अफ्रीका में भी पहुँच गया है; इससे अफ्रीका के नैरोबी शहर में कुछ मुमुक्षुओं ने मिलकर एक मुमुक्षुमण्डल की स्थापना की है और वहाँ नियमितरूप से पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों की स्वाध्याय होती है। मुमुक्षु-मण्डल की स्थापना के समाचार देते हुए सभापति, मन्त्री आदि ने एक उल्लासपूर्ण पत्र लिखा है; जिसमें वे लिखते हैं कि–

''यात्राएँ की थीं, व्याख्यान सुने थे, क्रियाओं में अति दृढ़ता थी; किन्तु यथार्थ सत्य समझने के लिए सुवर्णपुरी (सोनगढ़) की ओर आना भाग्य में नहीं था, इसलिए सद्गुरु का समागम और अमृतवाणी सुनना- समझना प्राप्त न हो सका..... अब समझपूर्वक आत्मा का लक्ष्य करके पुरुषार्थ करने का अवसर प्राप्त हुआ है। परम्परागत शंकाओं का समाधान हुआ और सत्य की ओर ढ़लने की रुचि हुई, अधिक रुचि होती जा रही है।''

रुचिवान पुरुष चाहे जहाँ अैर चाहे जैसे संयोगों में भी छिपे नहीं रहते...

(१) मुमुक्षुमण्डल की स्थापना जेष्ठ कृष्ण ४ रविवार को हुई थी।

(२) सरस्वती भण्डार की स्थापना अषाढ़ कृष्णा ८ रविवार के दिन हुई, उसमें स्वाध्याय करने और बेचने के लिए सैकड़ों रुपये की पुस्तकें सोनगढ़ से मँगाई हैं।

(३) प्रारम्भकाल में हर रविवार को २ से ६ तक शास्त्र वचनिका, चर्चा और भक्ति का कार्यक्रम रखा गया। तत्पश्चात् हर शनिवार को भी रात के ७.३० से १० तक वचनिका एवं चर्चा का कार्यक्रम रखा गया।

(४) पर्यूषण पर्व अत्यन्त आनन्दपूर्वक मनाया गया। उस समय प्रतिदिन सवेरे ८ से लेकर रात्रि ९ बजे तक का कार्यक्रम रखा गया था। उसमें वचनिका, स्वाध्याय, भक्ति, आरती और प्रतिक्रमण होता था। सभी भाइयों ने उत्साहपूर्वक आत्मलाभ लिया। पाँच भाइयों ने आठ-आठ दिन के उपवास किए थे।

(५) आश्विन कृष्णा १० रविवार से प्रतिदिन ६ से ८ तक का कार्यक्रम रखा गया है, और प्रतिदिन वचनिका भक्ति तथा आरती होती है। रविवार के दिन २ से ८ तक का कार्यक्रम रखा गया है। इसके उपरान्त सरकारी उत्सवों के दिन जब बाजार बन्द हो–उन दिनों के लिए–रविवार की ही भाँति कार्यक्रम बनाया है। उपरोक्त कार्यक्रम को पढ़कर वहाँ के मुमुक्षुमण्डल के उत्साह का पता चलता है। इस उत्साह के लिए वहाँ के मुमुक्षुमण्डल को धन्यवाद!

स्व० धरमशी भाई को अफ्रीका में सत्धर्म प्रचार के लिए बहुत उत्साह था, उन्होंने अफ्रीका में आत्मधर्म मासिक पत्र के सैकड़ों ग्राहक बनाए थे। उनके स्वर्गवास के पश्चात् उनकी सुपुत्री पानी बहिन ने सोनगढ़ की संस्था के भिन्न-भिन्न विभागों के लिए एक हजार रुपये का दान किया था, – इसके लिए उनका आभार।

मगसिर
२४७७

आत्मधर्म

वर्ष छठवाँ
अंक–८

भगवान की दीक्षा और मुनिदशा

[वीर सम्वत् २४७६ में राजकोट शहर में पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा-महोत्सव हुआ; उसमें फाल्गुन शुक्ला १०वीं के दिन प्रभुश्री के दीक्षा कल्याणक प्रसंग पर दीक्षावन में पूज्य कानजीस्वामी का वैराग्य-प्रवचन]

आज भगवान का दीक्षा-कल्याणक-महोत्सव है। मैं आत्मा अनन्त ज्ञान-आनन्द का पिण्ड शुद्धस्वरूपी हूँ, पुण्य-पाप के भाव विकार हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है और शरीर के जड़ रजकणों से मैं त्रिकाल भिन्न हूँ;–ऐसा सम्यक् आत्मभान तो भगवान को पूर्व भवों में हुआ था; आत्मा का भान होने के पश्चात् ही तीर्थङ्करनामकर्म बन्ध होता है। तीर्थङ्कर भगवान का आत्मा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को साथ लेकर ही माता के गर्भ में आता है। भगवान को ऐसा भान था कि मैं चिदानन्दस्वरूप ज्ञाता हूँ, पुण्य-पाप-आस्रव अशरण हैं, वे मुझे शरणभूत नहीं हैं; मेरा अनन्त शुद्धस्वभाव ही मुझे शरणभूत है। पूर्व भव में ऐसा भान होने के पश्चात्, कुछ शुभराग हुआ कि 'मैं पूर्ण हो जाऊँ, जगत के जीव धर्म प्राप्त करें;'–ऐसे शुभराग से तीर्थङ्करनामकर्म का बन्ध हुआ। तीर्थङ्करनामकर्म का बन्ध हुआ, वह आत्मा के धर्म का फल नहीं है किन्तु राग का फल है। राग विकार है। जब आत्मस्वभाव में वीतरागरूप से स्थिर नहीं हुआ जा सकता, उस समय राग होता है; ऐसे राग के फल में तीर्थङ्करनामकर्म बँधता है। भगवान का आत्मा तो सम्यग्दृष्टि था। तीर्थङ्करनामकर्म की प्रकृति जड़ है और तीर्थङ्करनामकर्म के कारणरूप जो जीव-परिणाम हुए, उनका भी सम्यग्दृष्टि जीव आदर नहीं करते। अन्तर स्वभाव की दृष्टि से स्वरूप के सहज आनन्द की तरंग में वर्तते हुए, बीच में राग के कारण तीर्थङ्करनामकर्म बँध जाता है–उसका धर्मी को आदर नहीं है, उस पर धर्मी की दृष्टि नहीं है।

पंचकल्याणकवाले तीर्थङ्कर जिस भव में तीर्थङ्करनामकर्म बाँधे, उसी भव में मुक्ति प्राप्त नहीं करते, किन्तु तीसरे भव में प्राप्त करते हैं। जो तीन कल्याणकवाले तीर्थङ्कर महाविदेहक्षेत्र में होते हैं, वे जिस भव में तीर्थङ्करनामकर्म का बन्ध करें, उसी भव में मुक्ति प्राप्त करते हैं। भगवान

ने तीन भव पहले तीर्थङ्करनामकर्म का बन्ध किया; और माता के गर्भ में आये, तभी से सम्यग्दर्शन तथा मति-श्रुत-अवधि तीन ज्ञानसहित थे। राग-रहित आत्मस्वभाव का भान था, परन्तु पर्याय की निर्बलता के कारण राग रह गया, इससे अवतार हुआ।

यहाँ श्री चन्द्रप्रभ भगवान के पंचकल्याणक हो रहे हैं। भगवान कुछ काल तक तीन ज्ञान सहित गृहस्थाश्रम में रहे, वहाँ भावना भाते थे कि :–

"अपूर्व अवसर अेवो क्यारे आवशे?
क्यारे थइशुं बाह्यांतर निर्ग्रन्थ जो.....
सर्व सम्बन्धनुं बंधन तीक्ष्य छेदी ने,
विचरशुं कब महत्पुरुषने पंथ जो"

... अपूर्व०

भगवान को अन्तर में अपूर्व आत्मभान वर्तता है, तीन ज्ञान के स्वामी हैं; वे अन्तर में परम निर्ग्रन्थ वीतरागीदशा को धारण करने की भावना करते हैं। अहो! अपने स्वरूप का ध्यान करके कब केवलज्ञान प्रगट कर लूँ–ऐसी भावना भगवान भाते थे। अन्तर में आत्मा का भान होने के पश्चात् राग-द्वेष और परिग्रह हो, वहाँ तक श्रावकदशा होती है, परन्तु मुनिदशा नहीं होती। मुनिदशा तो अन्तर में विशेष लीनता द्वारा राग-द्वेष को दूर करके बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रहरहित छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलती हुई दशा प्रगट हो, ऐसी अनादि सन्तों की दशा है। अहो! वह दशा कब आयेगी? ऐसी भगवान की भावना थी। अन्तर में स्वरूपरमणता के आनन्द में रागादि का अभाव और बाह्य में वस्त्र के एक ताने का भी अभाव–ऐसी वीतरागी मुनिदशा होती है। वस्त्र का एक ताना भी ग्रहण करने का लक्ष्य हो तो वह मुनिदशा को बाधक है। इससे उस दशा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि :–

सर्व भावथी औदासीन्य वृत्ति करी,
मात्र देह ते संयम हेतु होय जो;
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहीं,
देहे पण किंचित् मूर्च्छा नव होय जो।

चारित्रदशा में ऐसा उदासीनभाव प्रगट हो जाता है कि मात्र देह के अतिरिक्त किसी भी परिग्रह पर लक्ष्य नहीं जाता; और देह भी संयमहेतु से तथा मूर्च्छारहितरूप से ही होने के कारण वह परिग्रह नहीं है। इन्द्रों ने जिनका जन्मोत्सव किया–ऐसे भगवान को भी अन्तर में ऐसी चारित्रदशा प्रगट हुए बिना केवलज्ञान नहीं होता,–ऐसा स्वभाव है। अन्तर में जैसा रागरहित

स्वभाव है, वैसी राग-द्वेष रहित आत्मा की दशा हो जाती है, और बाह्य में जैसा माता ने जन्म दिया, वैसी शरीर की दशा स्वयं हो जाती है, ऐसा ही मुनिदशा में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। अन्तर में वीतरागभाव प्रगट हुआ हो, तथापि बाह्य में वस्त्रादि का सम्बन्ध बुद्धिपूर्वक रहे–ऐसा तीनकाल, तीनलोक में नहीं बनता। भगवान ऐसी पवित्र दशा की भावना भाते थे, और आज (दीक्षा कल्याण में)–ऐसी दशा अंगीकार की। पञ्च महाव्रत अङ्गीकार करूँ–ऐसा शुभ विकल्प भगवान को हुआ, परन्तु उस पंचमहाव्रत के शुभराग के प्रति भी भगवान को उदासीनता वर्तती है। अहो! आत्म-अनुभव में लीनतारूप संयमदशा प्रगट होने से शरीर के अतिरिक्त दूसरा कोई परिग्रह नहीं होता; शरीर भी मूर्च्छा रहित होता है,–ऐसी दशा प्रगट करके केवलज्ञान कब प्रगट करूँ!–ऐसी भगवान की भावना थी।

मुनि होने से पूर्व भगवान को जातिस्मरणज्ञान हुआ था, और वैराग्य-भावना भाते थे कि–अपने ज्ञायकमूर्ति आत्मा को दृष्टि में–प्रतीति में तो लिया है; अब इस चिदानन्द स्वभाव की भावना करते हुए, उसकी लीनता में कब विचरण करूँगा।–ऐसी अन्तर भावना प्रगट हुए बिना मुक्ति या मुनिदशा नहीं होती। संसार में गृहस्थरूप से रहते-रहते किसी को केवलज्ञान हो जाये या मुनिदशा प्रगट हो–ऐसा तीनकाल, तीनलोक में नहीं हो सकता। गृहस्थपने में अधिक से अधिक पाँचवें गुणस्थान तक की श्रावकदशा हो सकती है; उसके पश्चात् अन्तर स्वरूप में विशेष लीनता होने से छट्ठा-सातवाँ गुणस्थान प्रगट हो, तब अधिकांश राग-द्वेष दूर हो जाते हैं और बाह्य संयोग भी स्वयं छूट जाते हैं; आत्मा उन्हें नहीं छोड़ता किन्तु वे न छूटें–ऐसा भी नहीं होता।–ऐसा सहजमार्ग है, ऐसी सहज मुनिदशा मोक्षमार्ग में होती है; इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार से मुनिदशा नहीं होती। कोई अन्य प्रकार से माने या मनाये तो वह मिथ्यादृष्टि है। अन्तर में आत्मा की दशा में सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक वीतरागभाव प्रगट हुए बिना मात्र बाह्य निर्ग्रन्थता में या पंचमहाव्रत में मुनिदशा नहीं है। अन्तर में भाव-निर्ग्रन्थता प्रगट हो –अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक का वीतरागभाव प्रगट हो और बाह्य में वस्त्रादिरहित निर्ग्रन्थता न हो–ऐसा कभी नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में बादाम का दृष्टान्त आता है:–जैसे, बादाम के ऊपर की छाल निकल जाये किन्तु भीतर का छिलका न निकला हो,–ऐसा होता है; परन्तु बादाम का भीतर का छिलका निकल जाये और ऊपर की छाल न निकली हो–ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। बाह्य वस्त्रादि परिग्रह तो छाल के समान है, और भीतर के राग-द्वेष छिलकों के समान हैं।

भगवान को कई वर्षों तक कर्म की बलजोरी के कारण गृहस्थरूप से रहना पड़ा–ऐसा नहीं है; लेकिन अपनी उस पर्याय की योग्यता से भगवान गृहस्थपने में रहे थे। पश्चात् भगवान को

वैराग्य होने से अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाएँ भाते थे। यथार्थ अनित्य भावना किसे कहा जाये? शरीर अनित्य है, राग अनित्य है,–ऐसी भावना तो क्षणिक शुभराग है, वह सच्ची अनित्य भावना नहीं है। अनित्यता के आश्रय से सच्ची अनित्य भावना नहीं होती; परन्तु शरीर और राग अनित्य हैं, मैं उनसे भिन्न नित्य ज्ञानानन्द हूँ–इस प्रकार नित्यानन्द आत्मस्वभाव के ओर की दशापूर्वक शरीरादि को अनित्य जाने, उसका नाम अनित्य-भावना है। अनित्य आदि भावनाओं में आश्रय तो नित्य ज्ञानानन्दस्वभाव का ही है। ज्ञानानन्द चैतन्य ज्योति दीपक नित्य जलता है, उसकी भावना के बिना 'शरीर अनित्य है'–ऐसी परलक्ष्यी भावना करके दिगम्बर द्रव्यलिंगी मुनि होकर जीव नवमें ग्रैवेयक तक गया; परन्तु उसकी भावना को सच्ची अनित्य-भावना नहीं कहते। अन्तर में आत्मा के अनुभव के बिना सच्चा त्याग या सच्ची भावना नहीं होती। भगवान ने तो नित्य और शरणभूत चैतन्यस्वभाव की उन्मुखतापूर्वक अनित्य-अशरण आदि भावनाएँ भायी थी। जितने तीर्थङ्कर होते हैं, वे सब वैराग्य के समय ऐसी भावना भाते हैं। इस समय महाविदेहक्षेत्र में श्री सीमन्धर भगवान तीर्थङ्कररूप में विराज रहे हैं; उन्होंने भी दीक्षा के समय ऐसी भावना भायी थी, और इन चन्द्रप्रभ भगवान ने भी यही भावना भायी थी। एक भी विकल्प का मैं कर्ता नहीं हूँ, मैं त्रिकाल ज्ञायकमूर्ति हूँ–ऐसी ध्रुव-नित्यस्वभाव की दृष्टि हुई हो; पश्चात् पुण्य-पाप हैं, वे अनित्य हैं–ऐसी अनित्य भावना होती है। धर्मात्मा को पंचमहाव्रत अङ्गीकार करने का और वस्त्रादि पर के त्याग करने का विकल्प उठता है, परन्तु अन्तर में उस विकल्प का या पर का स्वामित्व नहीं होता।

मुनिदशा होने पर सहज ही निर्ग्रन्थ दिगम्बरदशा हो जाती है; मुनि की दशा त्रिकाल नग्न दिगम्बर होती है। यह कोई पक्ष या बाड़ा नहीं है, किन्तु अनादि सत्य वस्तु-स्थिति है। कोई कहे कि–'वस्त्र हों तो क्या अड़चन है? क्योंकि वस्त्र तो परवस्तु हैं, वे कहाँ आत्मा को बाधक होते हैं?' उसका समाधानः–वस्त्र परवस्तु हैं और वे आत्मा को बाधक नहीं हैं, यह बात सच है; वस्त्र बाधक नहीं होते लेकिन वस्त्रों को ग्रहण करने की बुद्धि ही मुनिदशा को रोकनेवाली है। मुनिओं को अन्तरङ्ग रमणता करते-करते इतनी उदासीनदशा सहज ही हो जाती है कि वस्त्र-ग्रहण की बुद्धि ही नहीं होती, और बाह्य में भी स्वयं निर्ग्रन्थपना ही होता है। मैं नित्य ज्ञानानन्द स्वभाव ही अपने को शरणभूत हूँ और शरीरादि अशरण हैं,–इस प्रकार अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओं का चिन्तवन करने के पश्चात् भगवान, वीतरागी जिनदीक्षा धारण करते हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के बिना मोक्षमार्ग पूर्ण नहीं होता। रागरहित चिदानन्द तत्त्व का भान तो था, तथापि अभी तक राग में रहे, अब तो चिदानन्द की मस्ती में लीन होंगे–इस प्रकार भगवान स्वभाव की भावना करते थे, और अब दीक्षा लेकर राग तोड़कर आत्मा के आनन्द की मस्ती में लीन हुए।

चारित्र तो आत्मा के आनन्द में झूलती हुई दशा है, इस दशा में दुःख नहीं है, किन्तु अन्तर में आत्मा की अतीन्द्रिय शान्ति की रसधारा गिरती है। मूढ़ जीव ऐसा मानते हैं कि चारित्रदशा में भगवान को अनेक कष्ट सहन करना पड़े। अहो! जो वीतरागी चारित्र, दुःखों को नाश करने का कारण है, उसे मूढ़ जीव दुःखदायक मानते हैं। अनेक उपवासादि हुए, उनमें भगवान को दुःख नहीं था, क्योंकि चारित्रदशा में आत्मा के सिद्ध भगवान जैसे अतीन्द्रिय आनन्द में लीन होने से आहार की वृत्ति का नाश हो जाता है और आहार स्वयं छूट जाता है, इसका नाम उपवास है। आत्मा के भान बिना लाँघन कर डाले तो वह कहीं उपवास नहीं कहलाता। अहो! मुनिदशा कैसी होती है, उसका भी लोगों को भान नहीं है। गणधरदेव जब नमस्कार मन्त्र बोलते हैं, तब सर्व मुनिओं के चरण में गणधर का भी नमस्कार पहुँचता है। 'णमो लोए सव्व साहूण'–इस पद द्वारा लोक के सर्व साधुओं को नमस्कार करते हैं, तो वह मुनिदशा कैसी होगी? तीनलोक के नाथ श्री महावीर भगवान के प्रधान, श्री सीमन्धर भगवान के प्रधान, अनन्त तीर्थङ्करों के धर्म-मन्त्री–ऐसा श्री गणधरदेव जब शुभराग के समय नमस्कार मन्त्र बोलते हैं, तब उसमें साधु के चरणों में नमस्कार आ जाता है। अहा, गणधरदेव जिसे नमस्कार करते हैं, वह साधुपद कैसा होगा? गणधरों में दो घड़ी में बाहर अङ्गों की रचना करने की शक्ति है, वैसी शक्ति भले ही दूसरे मुनिओं में न हो, तथापि जो चारित्रदशा प्रगट करके आत्मा में लीन हुए–ऐसे आठ वर्ष की उम्रवाले, दो घड़ी पूर्व साधु हुए मुनिओं को भी गणधर का नमस्कार आ जाता है। आठ वर्ष का राजकुमार इसी समय मुनि हुआ हो और गणधर तो लाखों वर्ष पहले से मुनि हुए हैं, तथापि कहते हैं कि– 'नमस्कार हो सर्व सन्त-मुनिओं के चरण में!'–उसमें आठ वर्ष के साधु हुए राजकुमार भी आ जाते हैं। गणधर कहते हैं कि हमारा नमस्कार झेलने की जिनमें शक्ति प्रगट हुई हो–ऐसे सन्तों का चारित्र आनन्दमय है, ऐसे सन्त दुःखी नहीं हैं। बाह्य में प्रतिकूल संयोग हों, उसका सन्तों को दुःख नहीं है; क्योंकि चैतन्यमूर्ति आत्मा अस्पर्शी है, वह पर संयोगों का स्पर्श नहीं करता, इसलिए उसे संयोग का दुःख नहीं है। धर्मात्मा को अन्तर-स्वभाव की दृष्टि से आत्मा के परम आनन्द का स्पर्श हुआ है,–आनन्द का अनुभव हुआ है, और फिर विशेष लीनता होने पर वीतरागी चारित्रदशा प्रगट हुई, उसमें परम आनन्द की लहर बढ़ गई है। भगवान वन में अकेले रहे; इसलिए वे दुःखी थे– ऐसा नहीं है; भगवान तो अन्तर के चैतन्य-वन में आत्मा के आनन्द की मौज करते थे। वास्तव में भगवान वन में नहीं रहे थे, शरीर में नहीं रहे थे, राग में भी नहीं रहे थे और पंचमहाव्रत के विकल्प में भी नहीं रहे थे, किन्तु भगवान को अपने आत्मस्वभाव में रहकर आत्मा के आनन्द में झुलते थे।

सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करके भगवान ने दीक्षा ग्रहण की, और फिर आत्मध्यान में लीन हुए कि तुरन्त ही मनःपर्ययज्ञान प्रगट हुआ। ऐसे दीक्षा-कल्याणक का प्रसंग अभी हो चुका है। अब, भगवान का केवलज्ञान-कल्याणक प्रसंग होगा। उस समय, भगवान ने दिव्यध्वनि में क्या उपदेश दिया, वह समझाया जायेगा।

आज श्री चन्द्रप्रभ भगवान, चारित्र भावना करके मुनि हुए; समस्त जीवों को सम्यग्दर्शन सहित ऐसी चारित्रदशा की भावना करने योग्य है।

सत्पुरुष की वाणी विषय, और कषाय के अनुमोदन से अथवा राग-द्वेष के पोषण से रहित होती है, –ऐसा निश्चय रखना!

(श्रीमद् राजचन्द्रजी)

महँगा मानव जीवन

[वीर सं० २४७५ फाल्गुन कृष्णा ७ के दिन सणोपुरा, ग्राम में पूज्यश्री कानजीस्वामी का प्रवचन]

[श्रीमद् राजचन्द्र : मोक्षमाला, पाठ चौथा–मानवदेह]

श्रीमद् राजचन्द्रजी को मात्र सात वर्ष की उम्र में पूर्व भवों का ज्ञान हुआ था। उनके ज्ञान का विकास अत्यधिक था। सोलह वर्ष की उम्र में मात्र तीन दिन में उन्होंने मोक्षमाला के इन १०८ पाठों की रचना की है। उसमें इस चौथे पाठ में मानवदेह की उत्तमता किसप्रकार है–वह समझाते हैं।

'तुमने सुना होगा कि विद्वान, मानवदेह को अन्य समस्त देहों की अपेक्षा उत्तम कहते हैं; लेकिन उत्तम कहने का कारण तुम नहीं जानते होंगे, इसलिए लो, मैं कहता हूँ।'

यह मनुष्यदेह अनन्तकाल में प्राप्त होती है; इसमें पैसादि की प्राप्ति हो, वह कहीं अपूर्व नहीं है, और उससे कहीं आत्मा की महत्ता नहीं है। आत्मा अन्तर में ज्ञान-आनन्द से भरपूर पदार्थ है, उसको समझ लेना अपूर्व है; और इसी कारण मानवदेह की उत्तमता है।

विद्वान, मानवदेह को अन्य सभी देहों से उत्तम कहते हैं, लेकिन वह किसलिए उत्तम है? वह यहाँ समझाते हैं। अमूल्य तत्त्व-विचार में स्वयं कहते हैं कि –

बहु पुण्य केरा पुंजथी शुभ देह मानवनो मल्यो,
तो ये अरे! भवचक्रनो आंटो नहीं एके टल्यो...

यह मनुष्यदेह तो जड़ है; लेकिन मनुष्यपने में जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप पवित्र भाव प्रगट कर सकता है, इसलिये देह को भी उपचार से 'शुभ देह' कहा जाता है। अनंतकाल में यह मनुष्यदेह प्राप्त हुई है, उसमें यदि आत्मा की समझ प्रगट करे तो उसे उत्तम कहा जाता है। इसके अतिरिक्त लक्ष्मी के ढेर या महान सत्ता मिले इससे कहीं मानव देह की उत्तमता ज्ञानियों ने नहीं कही है। अतः कहा है कि–

लक्ष्मी अने अधिकार बधतां शुं वध्युं ते तो कहो?
शुं कुटुम्ब के परिवारथी वधवापणु अे नय ग्रहो?
वधवापणुं संसारनुं नरदेहने हारी जवो,
अेनो विचार नहीं अहो! एक पल तमने हवो!

बाह्य में लक्ष्मी आदि संयोगों की वृद्धि हुई, उससे आत्मा में क्या बढ़ा? वह तो विचार करो। कहीं बाह्य संयोगों से आत्मा की महत्ता नहीं है। मानवदेह प्राप्त करके यदि शरीर से पृथक् आत्मा की पहचान न करे तो इस मनुष्यदेह का मूल्य कौढ़ी का भी नहीं है। आत्मा के भान बिना

बाह्य संयोगों से मिठास मानकर संसार की वृद्धि करके मनुष्यभव हार जाता है।

जो आत्मा की अन्तर की वस्तु हो, वह कभी आत्मा से पृथक् नहीं होती। शरीर, पैसा, स्त्री, पुत्रादि वस्तुएँ आत्मा की नहीं हैं, इससे वे वस्तुएँ परभव में आत्मा के साथ नहीं जाती। लाखों रुपये मिलें, उनसे कहीं जीव की महत्ता नहीं है। रुपये मिलने में कहीं वर्तमान बुद्धिमानी नहीं है। जीवों को बाह्य संयोग तो पूर्व प्रारब्ध के अनुसार होते रहते हैं; कहीं भगवान किसी को सुख-दुःखी नहीं करते, तथा संयोग का भी सुख या दुःख नहीं है। जीव स्वयं अपनी भूल से पराश्रय से दुःखी होता है, और यदि आत्मा की पहचान करके स्वाश्रयभाव प्रगट करे तो उसके अपने से अपना कल्याण होता है। हे जीव! अनन्तकाल में यह अमूल्य मनुष्य-देह और सत्समागम प्राप्त हुआ है, अब तू अपने आत्मा को समझ! आत्मा को समझे बिना अनन्तानन्तकाल निगोद और कीड़े-मकोड़ों के भव में व्यतीत किया, वहाँ तो सत्श्रवण का भी अवकाश नहीं है! अब यह दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त करके आत्मा को समझने का मार्ग ग्रहण कर। भाई! अन्तर में आत्मा की महिमा आनी चाहिए। पैसा, स्त्री आदि की जो महिमा है, उसे दूर करके अन्तर में चैतन्य–स्वरूप की महिमा का भास होना चाहिए। जिस प्रकार हिरन को अपनी नाभि में भरी हुई सुगंधित कस्तूरी का विश्वास नहीं आता, इसलिए बाह्य में उस सुगन्ध को मानकर भटकता है; उसी प्रकार इस जीव में अपने में ही अपनी प्रभुता भरी है, तीनलोक का नाथ परमात्मा होने की शक्ति इसी में है, लेकिन पामर को अपनी प्रभुता का विश्वास नहीं जमता, इससे अपनी प्रभुता की महिमा को चूककर बाह्य पदार्थों को महत्ता देता है, इससे बाह्य के आश्रय से संसार में परिभ्रमण करता है। आत्मा को समझने का अवकाश मुख्यतया इस मनुष्यदेह में है। जब तक आत्मतत्त्व की महिमा को नहीं जाना, तब तक व्रत-तप-दान या यात्रादि करने से क्या होगा? आत्मा की पहचान बिना मनुष्यदेह की अथवा व्रतादि की परमार्थमार्ग में कुछ भी गिनती नहीं है। आत्मा की पहचान के कारण ही मनुष्यदेह की उत्तमता कही गई है।

'यह संसार महान दुःखों से भरपूर है। इसमें से ज्ञानी तैरकर पार उतरने का प्रयोजन रखते हैं। वे मोक्ष की साधना करके अनन्त सुख में विराजमान होते हैं। यह मोक्ष अन्य किसी देह से प्राप्त नहीं होता। देव, तिर्यंच या नरक–इस एक भी गति से मोक्ष नहीं है, मात्र मानवदेह से मोक्ष प्राप्त होता है।'

यह संसार अपार दुःखों से भरपूर है। अज्ञानभाव के कारण जीव चार गतियों में भटकता है। देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक–यह चार गतियाँ हैं। उनमें मनुष्यदेह अनन्तकाल में प्राप्त होती है; और मनुष्यदेह में सत्समागम का मिलना तो बहुत ही महँगा है। मनुष्यभव प्राप्त करके भी जीव

ने अपने आत्मा की दरकार नहीं की और बाह्य में देह-कुटुम्ब आदि पर की बात में रुका रहा–इस प्रकार मानव जीवन व्यर्थ गँवा दिया। 'घर के लड़के चक्की चांटें, पड़ौसी को आटा'–इस कहावत के अनुसार अपने आत्मा को समझने की दरकार नहीं की और पड़ौसी अर्थात् परवस्तुओं को जानने में तथा उनका अभिमान करने में लगा रहा। अपने आत्मा को तो समझता नहीं है और मैं पर का भला कर दूँ–ऐसा मानता है। अरे भाई! परवस्तु में आत्मा की सत्ता चलती ही नहीं। शरीर में रोग हो, उसे दूर करने की इच्छा होने पर भी वह दूर नहीं होता; रोग न लाने की इच्छा होने पर भी रोग हो जाता है; इसलिए आत्मा की इच्छ पर में कार्यकारी नहीं होती। पर से आत्मा पृथक् है, इसलिए आत्मा किसी दूसरे का भला या बुरा नहीं कर सकता; तथापि पर को अपना मानकर उसकी ममता करता है, इससे जीव दुःखी है।

देखा! श्रीमद् राजचन्द्रजी सोलह वर्ष की युवावस्था में तो सारे संसार का दुःखमय वर्णन करते हैं। यह संसार अपार दुःखों से भरा हुआ है, कोई बड़ा राजा हो या सेठ हो, तो इससे उन्हें सुखी नहीं कहा है। शरीर से भिन्न चैतन्यमूर्ति आत्मा का जिन्हें भान नहीं है और पर का ममत्त्व करते हैं–वे सब जीव इस संसार में अनन्त दुःखी हैं। राज्य, लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र, प्रतिष्ठा आदि होने पर भी पर के ममत्व के कारण वह जीव दुःखी ही है। रोग या निर्धनता के कारण जीव दुःखी नहीं है, परन्तु अन्तर में अपना आत्मा सुख से परिपूर्ण है–उसकी महिमा नहीं करता और पर की महिमा करके उसका ममत्व करता है, इससे दुःख है। जीव का ममत्वभाव ही संसार है और उसी का दुःख है; परवस्तु में संसार या दुःख नहीं है। जब जीव परभव में जाता है, तब शरीरादि परवस्तुएँ तो यहीं पड़ी रहती हैं, वे जीव के साथ नहीं जातीं। जीव अपने ममत्वभाव को साथ ले जाता है, वह ममत्वभाव ही संसार है।

इस दुःखमय संसार से पार होने का प्रयोजन ज्ञानी साधते हैं और मोक्षदशा प्रगट करते हैं। आत्मा का परिपूर्ण सुख मोक्षदशा में प्रगट होता है। आत्मा के स्वभाव में सुख भरा है, उसे पहचानकर उसमें एकाग्र होने से मोक्षदशा में वह सुख परिपूर्ण प्रगट होता है। जैसे–चने में स्वाद भरा है, इससे उसे सेकने से वह प्रगट होता है, और फिर उसे बोया जाये तो वह उगता नहीं है; उसी प्रकार चैतन्यपिण्ड आत्मा में सुख स्वभाव भरा है, उसकी श्रद्धा और एकाग्रत के बल से मोक्षदशा में वह सुख प्रगट होता है, और फिर उस आत्मा को अवतार नहीं होता। ऐसी मोक्षदशा प्रगट होने का अवसर इस मनुष्यभव में ही है। प्रथम तो मनुष्यदेह में आत्मा की रुचि से सत्समागम द्वारा आत्मस्वभाव को पहचाने कि–मैं शुद्ध हूँ; पवित्र हूँ, ज्ञान-आनन्द से भरपूर हैं; जो विकारी भाव होते हैं, वह दुःख है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। किसी संयोग से मुझे सुख-दुःख

नहीं है–इस प्रकार भान करने के पश्चात् आत्मा में स्थिर होने पर राग-द्वेष का अभाव होकर मोक्षदशा का सुख प्रगट होता है। मोक्ष होने की शक्ति इस आत्मा में ही भरी है; शक्तिरूप से यह आत्मा ही परमात्मा है। **'अप्पा सो परमप्पा'** आत्मा ही स्वभाव से परमात्मा है। उसका भान करके स्वयं ही प्रगटरूप परमात्मा हो जाता है। वह इस मनुष्यभव में ही हो सकता है। और इसीलिए ज्ञानियों ने मानवदेह को उत्तम कहा है।

प्रत्येक आत्मा, परमात्मा जैसा सच्चिदानन्द-मूर्ति है। बाह्य देहादि में तथा वर्तमान अवस्था में अन्तर है, किन्तु स्वभाव से तो सभी आत्मा प्रभु हैं। अपूर्णता किसी आत्मा का यथार्थ स्वरूप नहीं है। जैसे सोने के १०० पाटों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्र लपेटे हों, लेकिन भीतर सब में सोना एक-समान ही है; उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा भिन्न-भिन्न चैतन्यधातु का पिण्ड है। बाह्य में छोटा-बड़ा शरीर और वर्तमान क्षणिक अवस्था में अपूर्णता है, उसे लक्ष्य में न लेकर त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि से देखें तो प्रत्येक आत्मा का स्वभाव परिपूर्ण है। जितनी शक्ति सिद्ध परमात्मा में है, उतनी ही शक्ति प्रत्येक आत्मा में है; लेकिन अज्ञानी जीव उसे भूलकर शरीर और विकार-भाव जितना ही अपने को मानता है, इससे संसार में परिभ्रमण करता है। ज्ञानी तो अपने परिपूर्ण आत्मस्वभाव को पहचान कर उसके आश्रय से मोक्षप्राप्ति की साधना करते हैं और संसार से पार हो जाते हैं।

आत्मा की पहचान करके मोक्ष प्राप्त करने का साधन इस मनुष्यदेह में ही है। इसके अतिरिक्त दूसरी गति में आत्मा का भान हो सकता है, किन्तु मोक्षदशा की पूर्ण साधना नहीं हो सकती। पुण्य करे तो स्वर्ग में जाता है, और पाप करे तो नरक में जाता है, तथा माया-कपट के भाव करे तो तिर्यंच होता है; वहाँ कोई-कोई जीव आत्मा का भान प्रगट करते हैं, लेकिन मोक्षदशा की प्राप्ति का पूर्ण पुरुषार्थ वहाँ नहीं हो सकता। शरीर के कारण मोक्षदशा नहीं रुकती, लेकिन वहाँ जीव की अपनी योग्यता ही उस प्रकार की होती है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह मोक्ष का उपाय है, उसका परिपूर्ण प्रयत्न इस मनुष्यभव में ही होता है। ऐसा मनुष्यभव प्राप्त करके भी अज्ञानी जीव उसे विषय-भोग में व्यर्थ गँवा देते हैं। पण्डित श्री बनारसीदासजी कहते हैं कि :–

ज्यों मतिहीन विवेक बिना नर, साजि मतंगज ईंधन ढ़ौवै;
कंचन भाजन धूल भरे शठ,, मूढ़ सुधारस सों पग धोवै।
बाहित काग उड़ावन कारण, डार महामणि मूरख रोवै;
त्यों यह दुर्लभ देह 'बनारसी' पाय अजान अकारथ खोवै।

(बनारसी विलास पृष्ठ १९)

जिस प्रकार कोई बुद्धिहीन–अविवेकी मनुष्य हाथी को सजाकर उससे ईंधन ढ़ोता है, तथा मूर्ख मनुष्य, स्वर्णपात्र में धूल भरता है और मूढ़-अज्ञानी जीव, सुधारस का पान करने के बदले उससे पाँव धोता है, तथा कौओं को उड़ाने के लिए अमूल्य मणि को फैंक देता है–उसी प्रकार अज्ञानी जीव यह दुर्लभ मनुष्यदेह प्राप्त करके उसे व्यर्थ ही गँवा देते हैं।

किसी मनुष्य पर राजा प्रसन्न हो गया और उसे एक सोने की अंबाड़ी से सजा हुआ हाथी इनाम में दिया। लेकिन मूर्ख जीव ने उस हाथी का उपयोग ईंधन ढ़ोने में किया। स्वयं हाथी पर बैठता नहीं है, लेकिन लकड़ी-घास ढ़ोता है; उसी प्रकार अज्ञानी जीव इस दुर्लभ मनुष्यदेह को पाकर आत्मार्थ साधने के बदले उसे व्यर्थ खो देते हैं। उत्तम मानवभव प्राप्त करके मूढ़ जीव अपना आत्महित नहीं साधते, और मैं पर का कल्याण कर दूँ–इस प्रकार व्यर्थ अभिमान करके मनुष्यभव को हार जाते हैं।

मनुष्यपना पाकर बहुत सा धन इकट्ठा जाये, उससे कहीं आत्मा की महत्ता नहीं बढ़ जाती, और निर्धनपना हो, उससे कहीं आत्मा की महत्ता घट नहीं जाती। जिस प्रकार निर्धन या धनवान को जन्म और मरण का एक ही मार्ग है; उसी प्रकार धर्म का और मोक्ष का मार्ग भी सभी जीवों के लिए एक ही प्रकार का है। धनवान को धर्म होता है और निर्धन को नहीं होता–ऐसा नहीं है; क्योंकि सधनता या निर्धनता से धर्म नहीं होता; परन्तु आत्मा का भान होने से धर्म होता है। निर्धन हो या सधन, किन्तु जो आत्मा का भान करे, उसी को धर्म होता है, इससे मानवदेह को उत्तम कहा जाता है।

'तब फिर तुम पूछोगे कि–सभी मानवों की मुक्ति क्यों नहीं होती? इसका उत्तर भी मैं कहे देता हूँ'–जो मानवपने को समझते हैं, वे संसार-शोक को तैर जाते हैं। मानवपना विद्वान लोग उसे कहते हैं कि जिसमें विवेकबुद्धि उदित हुई हो; उसके द्वारा सत्यासत्य का निर्णय करके परम तत्त्व, उत्तम आचार और सत्धर्म का सेवन करके वे अनुपम मोक्ष को प्राप्त होते हैं।'

मुक्ति की साधना इस मनुष्य-भव में ही होती है, लेकिन सभी मानवों की मुक्ति नहीं हो जाती। मनुष्यपने में जो विवेक बुद्धि (स्व-पर का यथार्थ ज्ञान) प्रगट करके आत्मा को समझते हैं उन्हीं का मोक्ष होता है। सत्य और असत्य का निर्णय करके जो परमतत्त्व को–अर्थात् आत्मा के शुद्धस्वभाव को समझते हैं, तथा राग-द्वेष रहित आत्मा के निर्दोष स्वभाव में एकाग्रतारूप उत्तम आचार का पालन करते हैं, वे ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

'मनुष्य-शरीर के दिखाव पर से विद्वान उसे मनुष्य नहीं कहते, परन्तु उसके विवेक के कारण कहते हैं।' आत्मा का निर्दोष स्वभाव क्या और विकार क्या? उसका जो विवेक करता है,

वही वास्तव में मनुष्य है। लेकिन हाथ-पैर आदि की आकृति पर से वास्तव में ज्ञानी मनुष्यपना नहीं कहते हैं। जिसे स्व-पर का विवेक नहीं है, उसके मानवपने की ज्ञानी उत्तम नहीं कहते। जिसने स्व-पर का विवेक प्रगट किया है, वही सच्चा मनुष्य है, और उसी को ज्ञानी उत्तम कहते हैं। मैं कौन और मेरा स्वरूप क्या? तथा मुझसे भिन्न पदार्थ क्या हैं? उसका जिसे विवेक नहीं है, उसे धर्म नहीं होता।

अन्तर में स्व-पर का विवेक प्रगट किए बिना, मात्र दो हाथ, दौ पैर, मुँह आदि की आकृति पर से ही मनुष्यपना नहीं समझना चाहिए; क्योंकि यदि ऐसा माना जाये, तो बन्दर के भी वह सब है, इससे उसे भी मनुष्य कहना पड़ेगा। 'दो हाथ, दो पग, दो आँखें, दो कान, एक मुँह, दो होठ और नाक यह सब अङ्ग जिसके हों उसे मनुष्य कहना चाहिए–ऐसा नहीं समझना। यदि ऐसा समझा जाये तो बन्दर को भी मनुष्य मानना पड़ेगा; क्योंकि उसने इसी प्रकार सब अङ्ग प्राप्त किये हैं; और विशेषता में एक पूँछ भी है, तो क्या उसे महामानव कहा जाये? नहीं; जो मानवता को समझता है, वही मानव है।' देह से भिन्न आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझकर अन्तर में विवेक प्रगट करे, वही मानव है। अमूल्य तत्त्वविचार में भी विवेक के सम्बन्ध में श्रीमद् राजचन्द्र जी कहते हैं कि :–

'हुं कोण छुं? क्यांथी थयो?, शुं स्वरूप छे मारुं खरुं?
कोना संबंधे बलगणा छे?, राखुं के अे परिहरुं?
अेना विचार विवेक पूर्वक, शान्त भावे जो कर्या,
तो सर्व आत्मिक ज्ञाननां, सिद्धान्त तत्त्वो अनुभव्यां।'

मैं यह देह नहीं हूँ, परन्तु आत्मा हूँ, मैं नवीन नहीं हुआ हूँ, किन्तु अनादि का हूँ; मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, रागादि भाव मेरा सच्चा स्वरूप नहीं है, देहादि परवस्तु के साथ मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है। –इसप्रकार अन्तर में आत्मा का विचार और विवेक प्रगट करे, उस जीव ने आत्मिक ज्ञान के सर्व तत्त्वों का अनुभव किया है।

'ज्ञानी कहते हैं कि यह मनुष्य भव अत्यन्त दुर्लभ है; अतिशय पुण्य के प्रभाव से इसकी प्राप्ति होती है। 'बहु पुण्य केरा पुंजथी शुभ देह मानवनो मल्यो।' इसलिए इससे शीघ्रातिशीघ्र आत्म-सार्थक कर लेना चाहिए। गजसुकुमार जैसे छोटे बालक भी मनुष्यपने को समझने से मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। मनुष्यों में जो अधिक शक्ति है, उसके द्वारा मदोन्मत्त हाथी जैसे प्राणी को भी वश कर लेते हैं; इसी शक्ति द्वारा यदि वे अपने मनरूपी हाथी को वश करलें तो कितना कल्याण हो।' जगत में एकेन्द्रिय तथा कीड़ों-मकोड़ों आदि की संख्या बहुत है, तथा नारकी और देवों की संख्या

भी अधिक है, लेकिन मनुष्य बहुत ही कम हैं। मनुष्यदेह का मिलना बहुत महँगा है; इसलिए ऐसी दुर्लभ मनुष्यदेह प्राप्त करके शीघ्रता पूर्वक आत्मकल्याण कर लेना चाहिए। शरीर से भिन्न ज्ञानमूर्ति आत्मा का भान कर लेने में ही मानवजीवन की सार्थकता है। श्रीमद् ने स्वयं छोटी-सी उम्र में यह रचना की है और इसमें वैराग्य के दृष्टान्त भी छोटी उम्र के राजकुमारों के दिये हैं। गजसुकुमार आदि राजकुमार छोटी-सी उम्र में आत्मभान करके और संसार से वैराग्य लेकर मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। 'किसी भी अन्य देह में पूर्ण सद्विवेक का उदय नहीं होता, और मोक्ष के राजमार्ग में प्रवेश नहीं हो सकता। इसलिए अपने को प्राप्त हुई, यह अति दुलर्भ मानवदेह सफल कर लेना आवश्यक है।' अन्य तीन गतियों में सम्यग्ज्ञान हो सकता है, परन्तु पूर्ण सद्विवेक अर्थात् केवलज्ञान तो मनुष्यपने में ही होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वह मोक्ष का राजमार्ग है। सम्यग्दर्शन और ज्ञान भी मोक्ष के कारण हैं और वे चारों गतियों में होते हैं; परन्तु सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान पूर्वक सम्यक्चारित्र—वह मोक्ष का राजमार्ग है—अर्थात् साक्षात् मोक्षमार्ग है, और वह इस मनुष्य भव में ही होता है। ऐसा दुर्लभ मनुष्य अवतार प्राप्त हुआ है, इसलिए जैसे बने वैसे शीघ्रतापूर्वक आत्मा की पहचान करके वीतरागमार्ग में सावधान होना चाहिए।

'अनेक मूर्ख लोग दुराचार में, अज्ञान में, विषयों में और अनेक प्रकार के मद में, मानवदेह को व्यर्थ गँवा देते हैं, अमूल्य कौस्तुभ हार बैठते हैं;—यह तो मात्र नाम के मानव हैं, बाकी वानररूप ही हैं।' यह अमूल्य चिन्तामणि जैसी मनुष्यदेह प्राप्त करके आत्मार्थ साधने के बदले अनेक मूर्ख जीव विषय-कषाय में गँवा देते हैं, तथा कितने ही जीव आत्मा को समझे बिना क्रियाकाण्ड में रुककर अज्ञान ही अज्ञान में मनुष्यभव हार बैठते हैं। यदि आत्मा का भान न करे तो बन्दर और मनुष्य के जीवन में यहाँ कुछ भी अन्तर नहीं माना है। इसलिए जिस प्रकार हो सके शीघ्र ही सत्समागम से आत्मा की पहचान करना, और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म का सेवन करना आवश्यक है। यही आत्महित का उपाय है।

निर्विकल्प और अखण्ड स्व-स्वरूप के अभिन्नज्ञान के अतिरिक्त
अन्य कोई सर्व दुःखों को घटाने का उपाय ज्ञानी पुरुषों ने नहीं जाना है।
(श्रीमद् राजचन्द्रजी)

जिसका अहो भाग्य हो उसे यह सुनने को मिलता है।

आचार्यदेव श्री समयसार में कहते हैं कि अनादिकाल से जिस शुद्ध आत्मा का स्वरूप नहीं जाना है, उसका स्वरूप में दर्शाता हूँ; मैं दर्शाऊँ, उसे तुम प्रमाण करना।–ऐसा कहकर वक्ता और श्रोता के भावों की एकता करते हैं। मैं अविरुद्ध निर्णय से कहूँगा; तुम यदि उसी प्रकार समझोगे तो भूल नहीं होगी, अन्यथा कुतर्क या वाद करते-करते पार नहीं आयेगा। तुम स्वयं स्वानुभव प्रत्यक्ष से, परीक्षा करके प्रमाण करना (निर्णय करना) अन्तरतत्त्व में बाह्य परीक्षा कार्यकारी नहीं है। श्री आचार्यदेव ने स्वयं तो शुद्धतत्त्व का अनुभव करके कहा है, परन्तु श्रवण करनेवाले पर इतनी जिम्मेवारी रखी है कि–तुम स्वयं ही अनुभव करके निर्णय करना। आत्मा, मन और इन्द्रियों से अगोचर है; इससे अपने अन्तर ज्ञानस्वभाव से जो उसे जानने का प्रयत्न करेगा, उसे वह मेरी तरह स्वानुभव प्रत्यक्ष होगा ही।

जिसके अहो भाग्य हों, उसे यह तत्त्व-श्रवण प्राप्त होता है। अपूर्व पात्रता से आत्मपुरुषार्थ करे तो परमार्थ की प्राप्ति हो। स्व को समझे बिना अनन्तबार साक्षात् तीर्थङ्कर के पास हो आया; वहाँ तीर्थङ्कर की देह को देखा, परन्तु जैसा तीर्थङ्करदेव ने कहा, वैसा अपने आत्मा का लक्ष्य नहीं किया। तीर्थङ्करदेव जैसा धर्म का उत्कृष्ट निमित्त इस जगत में दूसरा कोई नहीं है; किन्तु वहाँ भी अन्तर में स्वभाव का अस्वीकार और विपरीतता सेवन करनेवाले जीव थे; और संसार में अनन्तकाल तक वैसे जीव रहना भी हैं। विपरीतता में सब स्वतन्त्र हैं, इससे कौन किसे तारे?

दुनियाँ तो जैसी है, वैसी अपने भाव में चल रही है। इस जीव को स्वयं समझकर अपना हित कर लेना चाहिए; दुनिया की उपाधि किसलिए करना? लोग क्या मान रहे हैं, उस पर दृष्टि नहीं रखना चाहिए, परन्तु सर्वज्ञ क्या कहते हैं, उसकी अन्तरपरीक्षा करना चाहिए। परमार्थ तत्त्व को न समझे और मात्र बाह्य प्रवृत्ति में रुका रहे तो उससे कभी भी जन्म-मरण दूर नहीं होगा।

कदाचित् मन्दकषाय करे तो पुण्यबन्ध करके स्वर्ग में जाता है; लेकिन आत्मा पर से भिन्न है–उसकी यथार्थ श्रद्धा के बिना मोक्ष का सम्यक्पुरुषार्थ नहीं होता। जीव ने नरक जाने के पापभावों की अपेक्षा पुण्यभाव अनन्तबार किये हैं–(नरक की अपेक्षा स्वर्ग में अनन्तबार गया है), परन्तु यहाँ तो जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसा धर्म किस प्रकार हो–उसकी बात है। पुण्य से धीरे-धीरे धर्म होगा, परावलम्बन से आत्मगुण प्रगट होंगे–आदि प्रकार की विपरीत मान्यताएँ अनादिकालीन हैं। निमित्ताधीन दृष्टि से ही जीव को संसार परिभ्रमण हो रहा है। पुण्य,पाप और राग का अंशमात्र भी मेरे स्वभाव में नहीं है, मैं एक ज्ञायकमात्र हूँ,–ऐसा समझे बिना चौरासी के

अवतार का एक भी चक्कर कम नहीं होगा। यदि भव कम न हों तो इस मनुष्य-अवतार को प्राप्त करने का फल ही क्या?

लौकिक नीति का पालन करे, उसका निषेध नहीं है; लेकिन ऐसी व्यवहार-पात्रता तो बाह्य आचरण में गिनी जाती है; यहाँ तो अब, अन्तर्मुख दृष्टि करके सत्समागम से आत्मा का अपूर्व अनुभव करने की आवश्यक्ता है–उसकी बात है। इसके अतिरिक्त दूसरा सब अनन्तकाल में जीव ने किया है; लेकिन वे सब साधन बन्धनरूप हुए। मोक्ष का यथार्थ साधन क्या है। उसे नहीं जाना। *(समयसार-प्रवचन से)*

प्रयोजनभूत तत्त्व

प्रयोजनभूत तत्त्व अर्थात् मूल वस्तु को न समझे और दूसरा सब करता रहे तो वह यथार्थ ज्ञान नहीं है। प्रयोजनभूत वस्तु को स्वीकार न करे और दूसरा सब मान ले–इस पर दृष्टान्त :–

एक थे 'ठाकुर।' किसी वणिक की दुकान से ठाकुर ने पाँच-सात सौ रुपये का माल और नगद रुपये उधार लिए; फिर बहुत दिनों के बाद दोनों हिसाब मिलाने बैठे। वणिक एक के बाद एक रकम बोलने लगा कि–ठाकुर साहब! दो नारियलों के चार आने बराबर? तो ठाकुर बोले 'हाँ बराबर हैं।' इस प्रकार पावभर मिरचें, सवासेर तेल, ढ़ाई सेर चाल आदि छोटी-छोटी रकमें स्वीकार कीं; फिर जब बड़ी रकम आयी कि दो सौ पचास रुपया नकदी लिए हैं; वहाँ ठाकुर कहते हैं कि–'हें....! इसका तो मुझे पता भी नहीं है। मैंने तो कभी नहीं लिए।'

ठाकुर ने छोटी रकमों को स्वीकार किया और मूल रकम को उड़ा दिया। वणिक समझ गया कि–गजब हुआ! इसने तो मूल रकम ही उड़ा दी। अब इसे खाते में से कैसे निकाला जाये? फिर आगे मिलान किया, उसमें पावभर हल्दी, आधा पाव धनियाँ आदि पाँच-सात रकमें स्वीकार कीं; लेकिन जहाँ बड़ी रकम आयी कि–इक्यावन रुपया नकदी। तब ठाकुर कहते हैं कि–'अरे भाई! इसका भी मुझे पता नहीं है!'–इस प्रकार मूल रकमें उड़ा दी और दूसरी सब स्वीकार कीं;

परन्तु यदि मूल रकम स्वीकार की होती और छोटी-छोटी दो–चार रकमें उड़ाईं होतीं तो इतना नफे में समा जाता, लेकिन यह मूल रकम ही उड़ा दी, उसका मेल कैसे बैठे? ठाकुर तो झूठा निकला।

उसी प्रकार शास्त्रों में दूसरों की भक्ति करने की, दया पालने की–ऐसी ही अन्य बातें आयें, वहाँ स्वीकार करता है कि–'हाँ महाराज! भक्ति आदि करें तो 'धर्म' होता।' अरे! लेकिन 'धर्म होता है'–ऐसा किसने कहा? भक्ति से धर्म होने की बात किसने की? पर की दया या भक्ति से तीनकाल, तीनलोक में धर्म नहीं होता,–ऐसी बात आये वहाँ कहता है कि–यह बात हमें नहीं जमती। ऐसा कहनेवाले 'अप्पा' ने (आत्मा ने) उपरोक्त दृष्टान्त की तरह प्रयोजनभूत रकम को उड़ा दिया है।

भाई! पुण्य की रकम स्वीकार की, परन्तु तत्त्व का निर्णय नहीं किया–तो तेरा कर्ज किस प्रकार चुकेगा? कर्म के भार के नीचे चौरासी में भटक मरेगा। पुण्य की बात को स्वीकार किया, दया की बात स्वीकार की, लेकिन जहाँ मूल रकम आयी कि–सच्चे देव-गुरु-शास्त्र और आत्मा के यथार्थ भान के बिना धर्म नहीं होता; वहाँ कहता है कि–मुझे यह बात नहीं जमती–ऐसा कहकर अप्पा (आत्मा) झट से छटक जाता है। तो वह भव-भ्रमण के खाते में से कैसे निकले? इसलिए मोक्षमार्ग में आत्मा की सर्वज्ञता, उपादान-निमित्त आदि आवश्यक रकमों का संशयरहित तथा विपरीततारहित यथार्थ ज्ञान करना चाहिए। उसका ज्ञान विपरीत हो तो धर्म का लाभ नहीं होता। *[मुक्ति का मार्ग से]*

भव का पार पाने के लिए अपूर्व भेदविज्ञान प्रगट करो!

(गतांक से आगे)

यहाँ उपदेश में सच्ची समझ की मुख्यता है। भले ही त्यागादि न हो सकें; परन्तु अन्तर में सच्ची समझ बना रखेगा, तो उस जीव को अल्प काल में भव का अन्त आ जायेगा; किन्तु यथार्थ समझ के बिना तो अनन्तकाल में भी भव से पार नहीं हो सकता। कूएँ में पानी भरने के लिये जानेवाली स्त्री घड़ा और रस्सी सब कुएँ में डालती है, परन्तु रस्सी की गाँठ तो हाथ में ही रखती है; इससे वह घड़ा, रस्सी और पानी को बाहर निकालती है; परन्तु यदि गाँठ छोड़ दे तो कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। उसी प्रकार आत्मा को चौरासी के कुँए से बाहर निकालने के लिए सम्यक्श्रद्धारूपी गाँठ को बराबर पकड़ रखना चाहिए! राग-द्वेष होने पर भी यदि स्वभाव की श्रद्धारूपी गाँठ को बराबर पकड़ रखे तो उस श्रद्धा के बल से राग-द्वेष को भी हटाकर अल्पकाल में आत्मा को चौरासी के कुएँ से बाहर निकाल लेता है। अनन्तकाल में जो एक क्षणमात्र भी नहीं की, ऐसी अपूर्व सच्ची समझ की महिमा लोगों को नहीं आती।

भगवान के समवशरण में जाकर दिव्यध्वनि सुनने पर भी स्वयं सच्ची समझ प्रगट नहीं की, इससे परिभ्रमण किया। भगवान पर को जान सके परन्तु किसी पर को पार नहीं कर सके। सामने वाले जीव का ऐसा पराधीन स्वभाव नहीं है कि भगवान उसे पार उतारें। जो जीव संसार से पार उतरते हैं, वे अपने स्वभाव के पुरुषार्थ से ही पार होते हैं, कोई किसी को उबारने में समर्थ नहीं है।

(९) भव के अभाव का भाव

इस गाथा में पवन से तरंग उठने की बात की है; यद्यपि तरंग तो समुद्र के पानी की अपनी योग्यता से ही उठती है, परन्तु वह मूलस्वभाव नहीं है, इसलिए निमित्त से होना कहा है; उसी प्रकार आत्मा में भी जो विकार होता है, वह उसका मूलस्वभाव नहीं है, इससे कर्म के निमित्त से होना कहा जाता है; वास्तव में कहीं निमित्त के कारण विकार नहीं होता, परन्तु जीव की योग्यता से ही होता है; लेकिन वह विकार, जीव का स्वभाव नहीं है; इसलिए 'कर्म के निमित्त से होता है'—ऐसा उपचार से कहा जाता है। ऐसा समझकर विकल्प की रुचि के अभाव में और स्वभाव की रुचि की लीनता के भाव में रहना, उसे भगवान, भव के अभाव का भाव कहते हैं।

(१०) जगत का, सत्य समझने से ही छुटकारा है

मैं परपदार्थों से त्रिकाल भिन्न हूँ, और विकार भी मेरा स्वभाव नहीं है। अवस्था में विकार

हो, परन्तु वह मेरे त्रिकाली अस्तित्त्व में नहीं है। विकार के कारण मेरे स्वभाव का अस्तित्त्व नहीं बना है–ऐसा धर्मी को भान है; शरीरादि परवस्तु का आत्मा में एक क्षण भी अस्तित्व नहीं है, उस का तो अस्तित्त्व ही आत्मा से पृथक् है; वह वस्तु ही अलग है। परन्तु शरीरादि की भाँति विकार कहीं आत्मा से भिन्न कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, विकार का अस्तित्त्व आत्मा की ही एक क्षणपर्यंत की अवस्था में है; उसका अस्तित्त्व आत्मा से भिन्न अन्यत्र नहीं है। आत्मा में वह क्षणिक होता है, किन्तु आत्मा का मूल स्थायी स्वभाव नहीं है। इस प्रकार स्वभाव भेद से भेद है। आत्मा के स्वभाव में विकार का अभाव है;–ऐसा यथार्थ जाने तो स्वभाव के आश्रय द्वारा विकार को दूर किया जा सकता है। इसी उपाय से मुक्ति होती है। भव का पार पाने के लिए जगत के जीवों का सत्समागम से वह उपाय समझना ही पड़ेगा।

मुक्ति का उपाय : भेद-विज्ञान

वीर सं० २४७६ के फाल्गुन शुक्ला १२ के दिन राजकोट शहर में भगवान श्री सीमन्धर स्वामी जिनबिम्बों की पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा हुई, और चाँदी के पत्र पर अंकित श्री प्रवचनसारजी शास्त्र की प्रतिष्ठा हुई; उस दिन पूज्य श्री कानजी स्वामी का समयसार गाथा ७२ पर प्रवचन

(४९) भगवान क्या करने से मोक्ष को प्राप्त हुए?

आज भगवान की प्रतिष्ठा का मांगलिक दिन है। पंचकल्याणक में आज भगवान का मोक्षकल्याणक हुआ है। श्री सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र से चन्द्रप्रभु भगवान ने मुक्ति प्राप्त की, और देवों ने आकार उनका निर्वाणकल्याणक मनाया,–यह दृश्य आज हुआ है। भगवान क्या करने से मोक्ष को प्राप्त हुए? वह बात इस समय यहाँ कही जाती है। भगवान ने परजीवों का कुछ नहीं किया, लेकिन प्रथम अपने आत्मा में भेदज्ञान किया और उसके प्रताप से केवलज्ञान प्रगट करके मुक्ति प्राप्त की।

(५०) भेदज्ञान ही मोक्ष का उपाय है।

भेदज्ञान ही मोक्ष का उपाय है–ऐसा यहाँ ७२वीं गाथा में श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव कहते हैंः–

अशुचिपणुं; विपरीतता अे आस्रवोना जाणीने,
बली जाणीने दुःख कारणो, अेथी निवर्तन जीव करे।।७२।।

आत्मा नित्य ज्ञानानन्द पवित्र वस्तु है, उसकी अवस्था में परिवर्तन होने से जो शुभाशुभ वृत्तियाँ होती हैं, वे काई की तरह अशुचिरूप हैं। जिस प्रकार पानी में काई होती है, वह पानी का स्वभाव नहीं है, किन्तु मैल है; उसी प्रकार आत्मा की अवस्था में जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह आत्मा का स्वभाव नहीं हैं, परन्तु मलिनभाव हैं–अशुचि हैं। आत्मा के ज्ञानस्वभाव का अनुभवन करने से वह पवित्र स्वरूप से अनुभव में आता है और पाप-पुण्य दोनों भाव उसमें मैलरूप से अनुभव में आते हैं। शरीर अशुचिमय है, वह तो आत्मा से सदैव भिन्न, जड़ है। आत्मा की अवस्था में होनेवाली पुण्य-पाप की वृत्तियाँ भी अपवित्र हैं, मैंल हैं, अशुचि हैं; और भगवान आत्मा तो ज्ञाननन्दमूर्ति पवित्र है, निर्मल है, शुचि है। इस प्रकार आत्मा और विकार को पृथक्-पृथक् जानकर, विकारभावों से पीछे हटकर आत्मा अपने स्वभाव की ओर उन्मुख होता है। इस प्रकार विकार से निवृत्त होने पर आत्मा को कर्मबन्ध नहीं होता। –ऐसा आत्मा और विकार का भेदज्ञान ही मुक्ति का उपाय है।

(५१) श्री आचार्यदेव आत्मा की प्रभुता बतलाते हैं।

प्रभो! तेरा स्वभाव सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ भगवान की अपेक्षा तेरी शक्ति कुछ कम नहीं है; जितनी शक्ति सर्वज्ञ भगवान में है, उतनी ही शक्ति तेरे स्वभाव में भरी है; उस शक्ति का भान करके उसमें स्थिर हो तो तुझमें भी सर्वज्ञदशा प्रगट हो। विकार ही मैं हूँ–ऐसी तुच्छबुद्धि भव-भ्रमण का कारण है; और विकार से भिन्न आत्मस्वभाव का भान करना, वह भेदज्ञान, मुक्ति का उपाय है। भगवान; तेरा आत्मा सदैव ज्ञानमूर्ति निर्मल है, क्षणिक शुभाशुभ वृत्तिओं जितना तू नहीं है। तेरी प्रभुता तुझमें ही भरी है। सर्वज्ञ की वाणी से भी तेरे स्वभाव के गीत पूर नहीं गाये जाते,–ऐसी तेरे स्वभाव की महिमा है। मूल-सूत्र में आस्रवों का अशुचिरूप से वर्णन किया है, उसमें से कुलांट मारकर आचार्यदेव ने टीका में आत्मा के पवित्र स्वभाव की बात निकाली है। आस्रव अशुचि हैं, तो उनके समक्ष भगवान आत्मा शुचि है,–ऐसा अस्ति-नास्ति से वर्णन किया है। पुण्य और पाप–यह दोनों भाव आस्रव हैं; वे आस्रव तो मलिनस्वभाववाले हैं और भगवान आत्मा सदैव पवित्र स्वभाववाला है।–इस प्रकार यहाँ आचार्यदेव आत्मा की प्रभुता बतलाकर विकार से भेदज्ञान कराते हैं।

(५२) मुक्ति का उपाय - भेदज्ञान

आत्मा की पर्याय में विकार होता अवश्य है; आत्मा की पर्याय में विकार है ही नहीं—ऐसा नहीं है; किन्तु उस क्षणिक विकारभाव को ही आत्मा का स्वरूप मान लेना, वह अज्ञान है। जैसे, कोई मनुष्य काई और पानी को एक मानकर काईवाला पानी पिये तो वह मूर्ख माना जाता है। लोग काई और पानी को पृथक् जानकर, काई को निकालकर पानी पीते हैं; उसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति सदैव अति निर्मल है, और पुण्य-पाप विकार काई की भाँति अत्यन्त मलिन हैं; इन दोनों का एकरूप अनुभव करता है, वह अज्ञानी है। आत्मा और विकार दोनों का स्वभाव पृथक्-पृथक् जानकर, विकाररहित पवित्र आत्मस्वभाव का अनुभव करना, वह भेदज्ञान है और वही मोक्ष का उपाय है। यहाँ शुद्ध आत्मद्रव्य बताना है, इससे चैतन्यमात्र स्वभाव को ही आत्मा कहा है, और विकार-भावों को अशुचिमय कहकर आत्मा से भिन्न बतलाया है। भगवान ऐसे स्वभाव का भान करके, विकार से हटकर स्वरूप में स्थिर हुए, तब मुक्ति प्राप्त की; ऐसे मुक्ति के उपाय को समझना, वह धर्म है। इसके अतिरिक्त दूसरा मोक्ष का उपाय नहीं है।

(५३) व्यवहार के आश्रय से क्या होता है?

लोग अज्ञानभाव से व्यवहार के आश्रय को मोक्ष का साधन मानते हैं। किन्तु व्यवहार का आश्रय तो बन्धन का कारण है; उसके आश्रय से मोक्ष का साधन प्रगट नहीं होता। आत्मा के परमार्थस्वभाव के आश्रय से ही मोक्ष का साधन प्रगट होता है। विकारी भाव आत्मा के पवित्र स्वभाव से विरोधी भाव हैं; और व्यवहार, वह परमार्थ का विरोधी है; उस व्यवहार के अवलम्बन से आस्रव दूर नहीं होते, किन्तु उत्पन्न होते हैं; और आत्मस्वभाव के आश्रय से ही आस्रव रुक जाते हैं।

(५४) आत्मा और आस्रवों का भिन्नत्व

आत्मा चैतन्यसत्तावाला होने से स्व-पर को जानता है, और विकारभाव अपने को या पर को नहीं जानते, इसमें वे जड़ स्वभाववाले हैं। जो विकार से पृथक् होकर आत्मस्वभावोन्मुख हुआ, वह जीव अपने को और विकार को जानता है। और जो विकार में ही एकत्व मानकर रुका है, वह जीव अपने को या पर को नहीं जानता। यहाँ आत्मा और विकारीभाव किस प्रकार पृथक् हैं? वह समझाते हुए श्री आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा तो ज्ञानस्वभावी होने से स्व-पर को जानता है और विकारी आस्रव अपने को या पर को नहीं जानते, लेकिन दूसरा उन्हें जानता है, इससे वे विकारी आस्रव तो जड़स्वभाववाले हैं।

इस प्रकार आत्मा और आस्रव भिन्न-भिन्न हैं। चैतन्य की जागृति को रोककर जो भाव होता

है, उसे यहाँ जड़ कहा है। जड़ का अर्थ यह नहीं है कि वे परमाणु में होते हैं; परन्तु आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिए उन्हें जड़ कहा है। जो भाव चैतन्य में एकता न करे और चैतन्य की रमणता को रोके, उसे चैतन्य कैसे कहा जाये? जिस भाव से पंचमहाव्रत होते हैं, वह शुभभाव भी आत्मा के स्वभाव में नहीं है, इसलिए वह जड़ में गिना जाता है; उस शुभराग के फल में जड़ का संयोग होता है। वह राग, चैतन्य के साथ एकता नहीं रखता और वह चैतन्य की एकता प्रगट होने का कारण नहीं है। सच्चे-देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति के भाव होते हैं, वे भी अशुचि भाव हैं; आत्मा के स्वभाव से विपरीत भाव हैं–इससे वे जड़-स्वभाव हैं। इस प्रकार आत्मा और आस्रवों को अत्यन्त भिन्नता है।

(५५) शुभराग, और धर्मी का कर्तव्य

प्रश्न :– पुण्यभाव, वह अशुचि और जड़ स्वभाव है–ऐसा कहा है, तो भक्ति आदि का शुभराग करना चाहिए या नहीं।

उत्तर :– जब तक वीतरागता न हो, तब तक राग अपने काल में हुए बिना नहीं रहेगा; लेकिन राग मेरा स्वभावभाव नहीं है, मेरा चैतन्यस्वभाव रागरहित है–इस प्रकार अन्तर में राग और चैतन्यस्वभाव का भेदज्ञान करना चाहिए। वीतराग को तो राग नहीं होता, लेकिन जो रागी है, उसे राग के समय भक्ति आदि भाव हुए बिना नहीं रहते। या तो तीव्र विषय-कषाय में पड़े हुए जीव को शुभराग नहीं होता, या फिर जो वीतराग हो गया हो, उसे शुभराग नहीं होता, किन्तु निचलीदशा में स्थित पात्रजीव को तो भक्ति–स्वाध्याय आदि शुभभाव हुए बिना नहीं रहते। परन्तु उस राग के समय भी धर्मी को अन्तर में भान होता है कि यह रागभाव है, यह मेरे स्वभाव से विरुद्ध भाव है, मेरा स्वभाव राग का कर्ता नहीं है, मैं तो पवित्र चैतन्यस्वरूप हूँ। इस प्रकार शुभराग होने पर भी धर्मी जीव उसे अपना कर्तव्य नहीं मानता; स्वभाव के आश्रय से जो वीतरागभाव प्रगट हुआ, उसी को अपना कर्तव्य मानता है।

(५६) भेदज्ञान चक्षु

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा को पवित्र चैतन्यस्वरूप से देखना चाहिए और पुण्य-पापादि आस्रवभावों को अशुचिरूप तथा जड़स्वभाववाला देखना चाहिए। यहाँ पुण्य-पाप को जड़स्वभावरूप से देखने को कहा है, तो वे किस प्रकार ज्ञात होते हैं? इस बाह्य आँख से वे ज्ञात नहीं होते, परन्तु चैतन्यस्वभाव की रुचि होने से स्वभाव के ज्ञानचक्षु द्वारा पुण्य-पाप जड़स्वभाव रूप से ज्ञात होते हैं। जिसने भेदज्ञानचक्षु द्वारा आत्मा को पुण्य-पाप रहित चैतन्यस्वरूप से जाना, उसने पुण्य-पाप को अपने स्वभावरूप नहीं माना अर्थात् उसने पुण्य-पाप को जड़स्वभावरूप से

जाना। इसके अतिरिक्त कहीं लकड़ी आदि जड़-पदार्थों की भाँति पुण्य-पाप कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं। मैं पर से भिन्न हूँ और क्षणिक विकार जितना भी मैं नहीं हूँ, परन्तु नित्य-स्थायी शुद्ध चैतन्यस्वभाव हूँ—इस प्रकार जाने, उसने आत्मा और आश्रवों को पृथक् जाना है। इस प्रकार भेदज्ञानचक्षु द्वारा आत्मा और आश्रवों को पृथक् जानकर आत्मा में एकाग्र होने से आस्रव दूर होकर मुक्तदशा प्रगट होती है। यह मोक्ष का उपाय है।

(५७) आस्रव व्यवहारज्ञेय कब होते हैं?

आस्रवभाव अशुचिरूप है और आत्मा पवित्र है। आस्रव का एक अंश भी स्वभाव को रोकता है, अतः वह आत्मा के स्वभाव से विपरीत है। आत्मा का स्वभाव स्व-पर का ज्ञाता है, इससे वह चेतनस्वभाव है और आस्रव स्वयं कुछ नहीं जानते, इससे वे जड़-स्वभाव हैं। आस्रव तो दूसरे के द्वारा ज्ञेय होनेयोग्य हैं। यहाँ 'आस्रव दूसरे के द्वारा ज्ञेय होनेयोग्य हैं—ऐसा कहकर आस्रवों को आत्मा के व्यवहारज्ञेयरूप से सिद्ध किया है। वे आस्रव वास्तव में व्यवहारज्ञेय कब होते हैं? जब आत्मा आस्रवों से भिन्न अपने स्वभाव को जानकर, उन से विमुख होकर स्वभावोन्मुख हुआ, तब उसकी स्व-परप्रकाशक ज्ञानशक्ति विकसित हुई, वह ज्ञानशक्ति विकसित होने से आस्रवों को अपने से भिन्न जाना अर्थात् आस्रव भी परज्ञेय हो गये, इससे वह व्यवहारज्ञेय हुआ। आस्रव वह मैं—ऐसी पर्यायबुद्धि से स्व-पर ज्ञानशक्ति विकसित नहीं होती, इसलिए आस्रव व्यवहारज्ञेय नहीं होते। आस्रवों से पृथक् हुए बिना उन्हें व्यवहारज्ञेय करेगा कौन? जिसने परमार्थ ज्ञेयरूप से आत्मा को लक्ष्य में लिया है, वह आस्रवों को व्यवहारज्ञेयरूप से जानता है। आस्रवरहित स्वभाव की ओर उन्मुखता होने से स्व-परप्रकाशक ज्ञान विकासित होता है। जिस जीव को वस्तु स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा नहीं है, वह आस्रव को पररूप से नहीं जान सकता। चैतन्यस्वभाव में विकार का अभाव है—इस प्रकार स्वभाव की प्रतीति करे, वह जीव राग को पररूप जान सकता है।'

(५८) साधकभाव को किसका आधार है?

विकार के कारण चैतन्यस्वभाव स्थिर नहीं रहता, लेकिन वह विकार के अभावरूप स्वभाव है; विकार का नाश होने से स्वभाव का नाश नहीं हो जाता;—इस प्रकार आत्मा, विकार से भिन्न है। आत्मस्वभाव के आश्रय से ही साधकभाव प्रगट होता है—स्थिर रहता है—बढ़ता है; विकार के आश्रय से साधकभाव प्रगट नहीं होता—स्थिर नहीं रहता और बढ़ता नहीं है। अणुव्रत या पंचमहाव्रत के शुभविकल्प के कारण पाँचवाँ या छठवाँ गुणस्थान स्थिर रहता है—ऐसा नहीं है, किन्तु स्वभाव के आश्रय से ही राग का अभाव होकर वह दशा प्रगट होती है और स्वभाव के आश्रय से ही वह स्थिर रहती है। जिस प्रकार अन्धा मनुष्य, आँखोंवाले मनुष्य को मार्ग नहीं बता

सकता, उसी प्रकार शुभरागरूप व्यवहार स्वयं अन्धा है, वह निश्चय का कारण नहीं हो सकता, और उसके आधार से निश्चय स्थिर नहीं रह सकता। व्यवहार-विकल्प हो भले, उसके होने का निषेध नहीं है, लेकिन उसके आधार से परमार्थ-धर्म प्रगट होगा—यह मान्यता मिथ्या है। भाई! इन क्षणिक पराश्रयीभावों की दृष्टि छोड़कर अपने चैतन्य की नित्यता की ओर की दृष्टि तो कर! स्वभावसन्मुख दृष्टि से तुझे व्यवहार का भी ज्ञान हो जायेगा। मैं विकारसन्मुख देखकर उसका ज्ञाता नहीं हूँ, किन्तु स्वभावसन्मुख रहकर उसका ज्ञाता हूँ—इस प्रकार ज्ञानी को स्वभावसन्मुखता की मुख्यता है, एक समय भी ज्ञानी की दृष्टि में व्यवहार की मुख्यता नहीं होती। स्वभाव की मुख्यता के बल से ही साधकदशा है। यदि स्वभाव की मुख्यता हटकर विकार की मुख्यता हो तो साधकदशा नहीं टिकती। श्रद्धा का विषय तो निश्चय एकरूप स्वभाव है, उसकी मुख्यता से साधकदशा का प्रारम्भ होता है, और उस स्वभाव की मुख्यता से ही साधकदशा में वृद्धि होकर पूर्ण मुक्तदशा प्रगट होती है। भगवान ऐसे उपाय से ही मोक्ष को प्राप्त हुए।

(५९) चैतन्यप्रभु की प्रतिष्ठा

देखो! आज इस राजकोट के जिनमन्दिर में श्री सीमन्धर भगवान आदि की स्थापना हो रही है, यानी अरिहन्त भगवान की प्रतिष्ठा का मंगल दिवस है; इस प्रतिष्ठा महोत्सव में आत्मा में स्वभाव की प्रतिष्ठा करने की बात है। विकार है, वह मैं हूँ—ऐसा मानकर अनादि काल से आत्मा में विकार की प्रतिष्ठा की थी। विकार से भिन्न चैतन्य स्वभाव को जानकर, आत्मा में विकारभावों की प्रतिष्ठा न करके, **'सिद्धसमान सदा पद मेरो'**—इस प्रकार आत्मा में चैतन्यस्वभाव की प्रतिष्ठा करना, वह धर्म है। श्री अरिहन्त भगवान ने भी, विकार है, वह मैं नहीं हूँ, मैं अखण्ड चैतन्यस्वभाव हूँ,—ऐसे भान द्वारा अपने आत्मा में चैतन्यस्वभाव की प्रतिष्ठा की और फिर उसमें लीनता से राग-द्वेष को दूर करके केवलज्ञान प्रगट किया; उनकी यह स्थापना हो रही है। उन अरिहन्त भगवान की भाँति अपने आत्मा में जो जीव चैतन्य भगवान की प्रतिष्ठा करे, वह जीव अल्पकाल में भगवान हुए बिना नहीं रहेगा। अपने आत्मा में चैतन्यप्रभु की स्थापना करना, वह परमार्थ स्थापना है। बाह्य में भगवान की स्थापना तो उपचार से है। पंचकल्याणक की जो बाह्य क्रियाएँ हुई, वे तो अपने होने के काल में हुई हैं। देखो, यह चैतन्य-प्रभु की लीला है कि वह स्व को जानने से पर को जान लेता है; लेकिन पर में कुछ करे—ऐसी चैतन्य प्रभु की लीला नहीं है। *(अपूर्ण०)*

साढ़े बारह वर्ष की तपस्या

अहमदाबाद में सुप्रभावती बहनि ने–जो कि अहमदाबाद मुमुक्षुमण्डल की एक सभ्य हैं– साढ़े बारह वर्ष की तपस्या की है; साढ़े बारह वर्ष तक उन्होंने एकान्तरा उपवास किए हैं। साढ़े बारह वर्ष तक इस प्रकार की तपस्या करने पर भी सत्समागम के प्रताप से वे समझती हैं कि– यह मात्र एक प्रकार का शुभभाव है, आत्मा की मुक्ति तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा ही होती है और वही धर्म है। उसके लिए उनकी भावना है।

कार्तिक शुक्ला ३ के दिन उनकी तपस्या का पारणा था; इस प्रसंग को वहाँ के मुमुक्षुमण्डल द्वारा उत्साहपूर्वक मनाने का कार्यक्रम दीपावली से प्रारम्भ हुआ था। कार्तिक शुक्ला २ के दिन गाजे-बाजे के साथ उनके घर पर भगवान की प्रतिमा को विराजमान किया था, और दो दिन तक पूजा-भक्ति तथा स्वाध्याय आदि हुए थे। इससे अहमदाबाद में खूब धर्म-प्रभावना हुई थी।

भगवान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला के

हिन्दी प्रकाशन

समयसार -प्रवचन (भाग-१)	[पू० श्री कानजीस्वामी कृत प्रवचन] मूल्य ६-०-०
समयसार -प्रवचन (भाग-२)	[समयसार-प्रवचन का दूसरा भाग कार्तिक शुक्ला १५ के पहले मँगाने वालों को ६-८-० के बदले मात्र ५-०-० में दिया जायेगा।]
समयसार -प्रवचन (भाग-३,४)	तैयार हो रहे हैं।
मोक्षशास्त्र-टीका	तैयार हो रहा है।
भेदविज्ञान सार	[पूज्य श्री कानजीस्वामी के धार्मिक महोत्सव के दिनों में समयसार पर प्रवचन] छप रहा है।
जैन बालपोथी	०-४-०
मुक्ति का मार्ग (सत्तास्वरूप पर प्रवचन)	०-१०-०
मूल में भूल (उपादान-निमित्त संवाद)	०-१२-०
वस्तुविज्ञान सार (जैन गीता)	जिज्ञासुओं को भेंट
नन्दीश्वर-द्वीप पूजन	०-१२-०
दशलक्षण-धर्म प्रवचन	०-१२-०
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें (आत्मधर्म के ग्राहकों को भेंट)	१-२-०
प्रवचनसार (अक्षरशः हिन्दी अनुवाद)	६-८-०
आत्मधर्म की फाइलें	३-१२-०

[इस शास्त्रमाला की ५१ पुस्तकें प्रसिद्ध हो चुकी हैं। उपरोक्त पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य पुस्तकें गुजराती भाषा में हैं, उनका सूची पत्र मँगा सकते हैं।]

–: मिलने का पता :–

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचन्द रवाणी, शिष्टसाहित्य मुद्राणालय मोटा आंकड़िया (अमरेली)
प्रकाशक : जमनादास माणेकचन्द रवाणी, अनेकान्त मुद्राणालय मोटा आंकड़िया (अमरेली)